729

॥ श्रीहरि: ॥

सार-संग्रह एवं सत्संगके अमृत-कण

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

स्वामी रामसुखदास

॥ श्रीहरिः ॥

सार-संग्रह

॥ श्रीहरि: ॥

गीता–सार

अध्याय

१. सांसारिक मोहके कारण ही मनुष्य 'मैं क्या करूँ और क्या नहीं करूँ—इस दुविधामें फँसकर कर्तव्यच्युत हो जाता है। अत: मोह या सुखासक्तिके वशीभूत नहीं होना चाहिये।

२. शरीर नाशवान् है और उसे जाननेवाला शरीरी अविनाशी है—इस विवेकको महत्त्व देना और

अपने कर्तव्यका पालन करना—इन दोनोंमेंसे किसी भी एक उपायको काममें लानेसे चिन्ता-शोक मिट जाते हैं।

३. निष्कामभावपूर्वक केवल दूसरोंके हितके लिये अपने कर्तव्यका तत्परतासे पालन करनेमात्रसे कल्याण हो जाता है।

४. कर्मबन्धनसे छूटनेके दो उपाय हैं—कर्मोंके तत्त्वको जानकर निःस्वार्थभावसे कर्म करना और तत्त्वज्ञानका अनुभव करना।

५. मनुष्यको अनुकूल-प्रतिकूल परि-स्थितियोंके आनेपर सुखी-दु:खी

नहीं होना चाहिये; क्योंकि इनसे सुखी–दु:खी होनेवाला मनुष्य संसारसे ऊँचा उठकर परम आनन्दका अनुभव नहीं कर सकता।

६. किसी भी साधनसे अन्त:करणमें समता आनी चाहिये। समता आये बिना मनुष्य सर्वथा निर्विकार नहीं हो सकता।

७. सब कुछ भगवान् ही हैं—ऐसा स्वीकार कर लेना सर्वश्रेष्ठ साधन है।

८. अन्तकालीन चिन्तनके अनुसार ही जीवकी गति होती है। अत: मनुष्यको हरदम भगवान्का स्मरण

करते हुए अपने कर्तव्यका पालन करना चाहिये, जिससे अन्तकालमें भगवान्‌की स्मृति बनी रहे।

९. सभी मनुष्य भगवत्प्राप्तिके अधिकारी हैं, चाहे वे किसी भी वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय, देश, वेश आदिके क्यों न हों!

१०. संसारमें जहाँ भी विलक्षणता, विशेषता, सुन्दरता, महत्ता, विद्वत्ता, बलवत्ता आदि दीखे उसको भगवान्‌का ही मानकर भगवान्‌का ही चिन्तन करना चाहिये।

११. इस जगत्‌को भगवान्‌का ही स्वरूप मानकर प्रत्येक मनुष्य

भगवान्‌के विराट्‌रूपके दर्शन कर सकता है।

१२. जो भक्त शरीर-इन्द्रियाँ-मन बुद्धि-सहित अपने-आपको भगवान्‌के अर्पण कर देता है, वह भगवान्‌को प्रिय होता है।

१३. संसारमें एक परमात्मतत्त्व ही जानने योग्य है। उसको जाननेपर अमरताकी प्राप्ति हो जाती है।

१४. संसार-बन्धनसे छूटनेके लिये सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंसे अतीत होना जरूरी है। अनन्यभक्तिसे मनुष्य इन तीनों गुणोंसे अतीत हो जाता है।

१५. इस संसारका मूल आधार और अत्यन्त श्रेष्ठ परमपुरुष एक परमात्मा ही हैं—ऐसा मानकर अनन्यभावसे उनका भजन करना चाहिये।

१६. दुर्गुण-दुराचारोंसे ही मनुष्य चौरासी लाख योनियों एवं नरकोंमें जाता है और दुःख पाता है। अतः जन्म-मरणके चक्रसे छूटनेके लिये दुर्गुण-दुराचारोंका त्याग करना आवश्यक है।

१७. मनुष्य श्रद्धापूर्वक जो भी शुभ कार्य करे, उसको भगवान्‌का स्मरण करके, उनके नामका

उच्चारण करके ही आरम्भ करना चाहिये।

१८. सब ग्रन्थोंका सार वेद हैं, वेदोंका सार उपनिषद् हैं, उपनिषदोंका सार गीता है और गीताका सार भगवान्‌की शरणागति है। जो अनन्यभावसे भगवान्‌की शरण हो जाता है, उसे भगवान् सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर देते हैं।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

मूल रामायण

(श्रीरामचरितमानस, उत्तरकाण्डसे)

अब श्रीराम कथा अति पावनि।
सदा सुखद दुख पुंज नसावनि॥
सादर तात सुनावहु मोही।
बार बार बिनवउँ प्रभु तोही॥
सुनत गरुड़ कै गिरा बिनीता।
सरल सुप्रेम सुखद सुपुनीता॥
भयउ तासु मन परम उछाहा।
लाग कहै रघुपति गुन गाहा॥
प्रथमहिं अति अनुराग भवानी।
रामचरित सर कहेसि बखानी॥

पुनि नारद कर मोह अपारा।
कहेसि बहुरि रावन अवतारा॥
प्रभु अवतार कथा पुनि गाई।
तब सिसु चरित कहेसि मन लाई॥
दो०—बालचरित कहि बिबिधि बिधि मन महँ परम उछाह।
रिषि आगवन कहेसि पुनि श्रीरघुबीर बिबाह॥
(उ० का० ६४)
बहुरि राम अभिषेक प्रसंगा।
पुनि नृप बचन राज रस भंगा॥
पुरबासिन्ह कर बिरह बिषादा।
कहेसि राम लछिमन संबादा॥
बिपिन गवन केवट अनुरागा।
सुरसरि उतरि निवास प्रयागा॥
बालमीक प्रभु मिलन बखाना।
चित्रकूट जिमि बसे भगवाना॥

सचिवागवन नगर नृप मरना।
भरतागवन प्रेम बहु बरना॥
करि नृप क्रिया संग पुरबासी।
भरत गए जहँ प्रभु सुख रासी॥
पुनि रघुपति बहु बिधि समुझाए।
लै पादुका अवधपुर आए॥
भरत रहनि सुरपति सुत करनी।
प्रभु अरु अत्रि भेंट पुनि बरनी॥

दो०—कहि बिराध बध जेहि बिधि देह तजी सरभंग।
बरनि सुतीछन प्रीति पुनि प्रभु अगस्ति सतसंग॥

(उ० का० ६५)

कहि दंडक बन पावनताई।
गीध मइत्री पुनि तेहिं गाई॥
पुनि प्रभु पंचबटीं कृत बासा।
भंजी सकल मुनिन्ह की त्रासा॥

पुनि लछिमन उपदेस अनूपा।
सूपनखा जिमि कीन्हि कुरूपा॥
खर दूषन बध बहुरि बखाना।
जिमि सब मरमु दसानन जाना॥
दसकंधर मारीच बतकही।
जेहि बिधि भई सो सब तेहिं कही॥
पुनि माया सीता कर हरना।
श्रीरघुबीर बिरह कछु बरना॥
पुनि प्रभु गीध क्रिया जिमि कीन्ही।
बधि कबंध सबरिहि गति दीन्ही॥
बहुरि बिरह बरनत रघुबीरा।
जेहि बिधि गए सरोबर तीरा॥

दो०—प्रभु नारद संबाद कहि मारुति मिलन प्रसंग।
पुनि सुग्रीव मिताई बालि प्रान कर भंग॥
(उ० का० ६६ क)

कपिहि तिलक करि प्रभु कृत सैल प्रबरषन बास।
बरनन बर्षा सरद अरु राम रोष कपि त्रास॥
(उ० का० ६६ ख)

जेहि बिधि कपिपति कीस पठाए।
सीता खोज सकल दिसि धाए॥
बिबर प्रबेस कीन्ह जेहि भाँती।
कपिन्ह बहोरि मिला संपाती॥
सुनि सब कथा समीरकुमारा।
नाघत भयउ पयोधि अपारा॥
लंकाँ कपि प्रबेस जिमि कीन्हा।
पुनि सीतहि धीरजु जिमि दीन्हा॥
बन उजारि रावनहि प्रबोधी।
पुर दहि नाघेउ बहुरि पयोधी॥
आए कपि सब जहँ रघुराई।
बैदेही की कुसल सुनाई॥

सेन समेति जथा रघुबीरा।
उतरे जाइ बारिनिधि तीरा॥
मिला बिभीषन जेहि बिधि आई।
सागर निग्रह कथा सुनाई॥

दो०—सेतु बाँधि कपि सेन जिमि उतरी सागर पार।
गयउ बसीठी बीरबर जेहि बिधि बालिकुमार॥
(उ० का० ६७ क)
निसिचर कीस लराई बरनिसि बिबिध प्रकार।
कुंभकरन घननाद कर बल पौरुष संघार॥
(उ० का० ६७ ख)

निसिचर निकर मरन बिधि नाना।
रघुपति रावन समर बखाना॥
रावन बध मंदोदरि सोका।
राज बिभीषन देव असोका॥
सीता रघुपति मिलन बहोरी।
सुरन्ह कीन्हि अस्तुति कर जोरी॥

पुनि पुष्पक चढ़ि कपिन्ह समेता।
अवध चले प्रभु कृपा निकेता॥
जेहि बिधि राम नगर निज आए।
बायस बिसद चरित सब गाए॥
कहेसि बहोरि राम अभिषेका।
पुर बरनत नृपनीति अनेका॥
कथा समस्त भुसुंड बखानी।
जो मैं तुम्ह सन कही भवानी॥
सुनि सब राम कथा खगनाहा।
कहत बचन मन परम उछाहा॥

सो०—गयउ मोर संदेह सुनेउँ सकल रघुपति चरित।
भयउ राम पद नेह तव प्रसाद बायस तिलक॥

(उ० का० ६८ क)

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

मूल भागवत

श्रीभगवानुवाच

ज्ञानं परमगुह्यं मे यद् विज्ञानसमन्वितम्।
सरहस्यं तदङ्गं च गृहाण गदितं मया॥

श्रीभगवान् बोले—ब्रह्माजी! मेरा जो अत्यन्त गोपनीय विज्ञानसहित ज्ञान है, वह तथा रहस्यसहित उसके अंग मेरे द्वारा कहे गये हैं, उसको तुम ग्रहण करो अर्थात् धारण करो।

यावानहं यथाभावो यद्रूपगुणकर्मकः।
तथैव तत्त्वविज्ञानमस्तु ते मदनुग्रहात्॥

मैं जितना हूँ, जिन-जिन भावोंवाला हूँ, जिन-जिन रूपों, गुणों और कर्मोंवाला

हूँ, उस मेरे समग्ररूपके तत्त्वका यथार्थ अनुभव तुम्हें मेरी कृपासे ज्यों-का-त्यों हो जाय।

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत् परम्।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्॥

सृष्टिसे पहले भी मैं ही विद्यमान था, मेरे सिवाय और कुछ भी नहीं था और सृष्टि उत्पन्न होनेके बाद जो कुछ भी यह संसार दीखता है वह भी मैं ही हूँ। सत् (चेतन, अविनाशी) असत् (जड्, नाशवान्) तथा सत्-असत्से परे जो कुछ कल्पना की जा सकती है, वह भी मैं ही हूँ। सृष्टिके सिवाय भी जो कुछ है, वह मैं ही हूँ और सृष्टिका नाश होनेपर जो शेष रहता है, वह भी मैं ही हूँ।

ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि।
तद् विद्यादात्मनो मायां यथाऽऽभासो यथा तमः॥

जैसे कोई वस्तु बिना होते हुए भी अज्ञानरूप अन्धकारके कारण प्रतीत होती है, ऐसे ही संसार न होते हुए भी मेरेमें प्रतीत होता है और जैसे ज्ञानरूप प्रकाश होते हुए भी उधर दृष्टि न रहनेसे प्रतीत नहीं होता अर्थात् अनुभवमें नहीं आता, ऐसे ही मैं होते हुए भी नहीं दीखता ये दोनों (संसारका विद्यमान न होते हुए भी दीखना और मेरा विद्यमान होते हुए भी न दीखना) मेरी माया है—ऐसा समझना चाहिये।

यथा महान्ति भूतानि भूतेषूच्चावचेष्वनु।
प्रविष्टान्यप्रविष्टानि तथा तेषु न तेष्वहम्॥

जिस तरह पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश—ये पाँचों महाभूत प्राणियोंके छोटे-बड़े, अच्छे-बुरे सभी शरीरोंमें प्रविष्ट होते हुए भी वास्तवमें प्रविष्ट नहीं हैं अर्थात् वे-ही-वे हैं, उसी तरह मैं उन प्राणियोंमें प्रविष्ट होते हुए भी वास्तवमें उनमें प्रविष्ट नहीं हूँ अर्थात् मैं-ही-मैं हूँ।

एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुनाऽऽत्मनः।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत् स्यात् सर्वत्र सर्वदा॥

मुझ परमात्माके तत्त्वको जाननेकी इच्छावाले साधकको अन्वय और व्यतिरेक रीतिसे अर्थात् संसारमें मैं हूँ और मेरेमें संसार है—ऐसे अन्वयरीतिसे तथा न संसारमें मैं हूँ और न मेरेमें संसार है,

प्रत्युत मैं-ही-मैं हूँ—ऐसे व्यतिरेकरीतिसे इतना ही जानना आवश्यक है कि सब जगह और सब समयमें मैं परमात्मा ही विद्यमान हूँ अर्थात् मेरे सिवाय कुछ भी नहीं है।

एतन्मतं समातिष्ठ परमेण समाधिना।
भवान् कल्पविकल्पेषु न विमुह्यति कर्हिचित्॥

ब्रह्माजी! तुम मेरे इस मतके अनुसार सर्वश्रेष्ठ समाधि (सहज समाधि)-में भलीभाँति स्थित हो जाओ। फिर तुम कल्प-कल्पान्तरोंमें कभी भी मोहको प्राप्त नहीं होओगे।

(श्रीमद्भागवत २।९।३०—३६)

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

भागवत-धर्म-सार

मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः।
अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमञ्जसा॥

श्रीभगवान् बोले—'मनसे, वाणीसे दृष्टिसे तथा अन्य इन्द्रियोंसे भी जो कुछ (वस्तु, व्यक्ति आदि संसार) ग्रहण किया जाता है अर्थात् अनुभवमें आता है, वह सब मैं ही हूँ। अतः मेरे सिवाय और कुछ भी नहीं है, यह सिद्धान्त आप शीघ्र समझ लें अर्थात् स्वीकार कर लें।'

गुणेषु चाविशच्चित्तमभीक्ष्णं गुणसेवया।
गुणाश्च चित्तप्रभवा मद्रूप उभयं त्यजेत्॥

'बार-बार विषयोंका सेवन करते

रहनेसे चित्त विषयोंमें फँस गया है और विषय चित्तमें बस गये हैं तो उन दोनों (विषय और चित्त)-को मेरे स्वरूपमें स्थित होकर त्याग देना चाहिये अर्थात् अपनेमें नहीं मानना चाहिये।'

(श्रीमद्भागवत ११।१३।२४, २६)

मामेव सर्वभूतेषु बहिरन्तरपावृतम्।
ईक्षेतात्मनि चात्मानं यथा खममलाशयः॥

'शुद्ध अन्तःकरणवाला भक्त आकाश-की तरह मुझ आवरणरहित परमात्माको ही देहसहित अपनेमें तथा सम्पूर्ण प्राणियोंके बाहर और भीतर परिपूर्ण देखे।'

इति सर्वाणि भूतानि मद्भावेन महाद्युते।
सभाजयन् मन्यमानो ज्ञानं केवलमाश्रितः॥

'हे महामते उद्धवजी! केवल इस

ज्ञानको धारण करके जो भक्त सम्पूर्ण प्राणियोंमें मेरा ही भाव रखता हुआ अर्थात् उनमें मुझे ही देखता हुआ और उनका आदर करता हुआ—

ब्राह्मणे पुल्कसे स्तेने ब्रह्मण्येऽर्के स्फुलिङ्गके।
अक्रूरे क्रूरके चैव समदृक् पण्डितो मतः॥

ब्राह्मण और चाण्डालमें, ब्राह्मण-भक्त और चोरमें, सूर्य और चिनगारीमें तथा कृपालु और निर्दयमें भी समानदृष्टि रखता है, वह भक्त ज्ञानी माना गया है।'

नरेष्वभीक्ष्णं मद्भावं पुंसो भावयतोऽचिरात्।
स्पर्धाऽसूयातिरस्काराः साहङ्कारा वियन्ति हि॥

'जब भक्तका सम्पूर्ण स्त्री-पुरुषोंमें निरन्तर मेरा ही भाव हो जाता है अर्थात् उनमें मुझे ही देखता है, तब शीघ्र ही उसके

चित्तसे ईर्ष्या, दोषदृष्टि, तिरस्कार आदि दोष अहंकार-सहित सर्वथा दूर हो जाते हैं।'

विसृज्य स्मयमानान् स्वान् दृशं व्रीडां च दैहिकीम्।
प्रणमेद् दण्डवद् भूमावाश्वचाण्डालगोखरम्॥

'हँसी उड़ानेवाले अपने लोगोंको और अपने शरीरकी दृष्टिको भी लेकर जो लज्जा आती है, उसको छोड़कर अर्थात् उसकी परवाह न करके कुत्ते, चाण्डाल, गौ एवं गधेको भी पृथ्वीपर लम्बा गिरकर भगवद्बुद्धिसे साष्टांग प्रणाम करे।'

यावत् सर्वेषु भूतेषु मद्भावो नोपजायते।
तावदेवमुपासीत वाङ्मनः कायवृत्तिभिः॥

'जबतक सम्पूर्ण प्राणियोंमें मेरा भाव अर्थात् 'सब कुछ परमात्मा ही हैं', ऐसा वास्तविक भाव न होने लगे, तबतक इस

प्रकार मन, वाणी और शरीरकी सभी वृत्तियों (बर्ताव)-से मेरी उपासना करता रहे।'

सर्वं ब्रह्मात्मकं तस्य विद्ययाऽऽत्ममनीषया।
परिपश्यन्नुपरमेत् सर्वतो मुक्तसंशयः॥

पूर्वोक्त साधन करनेवाले भक्तका 'सब कुछ परमात्मस्वरूप ही है'—ऐसा निश्चय हो जाता है। फिर वह इस अध्यात्मविद्या (ब्रह्मविद्या) द्वारा सब प्रकारसे संशयरहित होकर सब जगह परमात्माको भलीभाँति देखता हुआ उपराम हो जाय अर्थात् 'सब कुछ परमात्मा ही है'—यह चिन्तन भी न रहे, प्रत्युत साक्षात् परमात्मा ही दीखने लगें।

अयं हि सर्वकल्पानां सध्रीचीनो मतो मम।
मद्भावः सर्वभूतेषु मनोवाक्कायवृत्तिभिः॥

'मेरी प्राप्तिके सम्पूर्ण साधनोंमें सबसे

श्रेष्ठ साधन मैं यही समझता हूँ कि सम्पूर्ण प्राणियोंमें मन, वाणी और शरीरकी सभी वृत्तियों (बर्ताव)-से मेरी ही भावना की जाय।'

न ह्यङ्गोपक्रमे ध्वंसो मद्धर्मस्योद्धवाण्वपि।
मया व्यवसितः सम्यङ्निर्गुणत्वादनाशिषः॥

'प्यारे उद्धवजी! मेरे इस भागवत्-धर्मका निष्कामभावपूर्वक किये गये आरम्भका भी किंचिन्मात्र नाश नहीं होता; क्योंकि मैंने ही इस धर्मको तीनों गुणोंसे रहित होनेके कारण सर्वश्रेष्ठ निश्चय किया है।'

यो यो मयि परे धर्मः कल्प्यते निष्फलाय चेत्।
तदायासो निरर्थः स्याद् भयादेरिव सत्तम॥

'हे सर्वश्रेष्ठ उद्धवजी! इस धर्मका पालन करनेवाला जो कोई भक्त यदि

भयसे भागने, रोने-पीटने आदिकी तरह निरर्थक कर्म भी निष्कामभावसे मेरे अर्पण कर दे अर्थात् उस होनहारमें मेरी मरजी मानकर निश्चिन्त हो जाय तो वे निरर्थक कर्म भी परमधर्म हो जाते हैं!'

एषा बुद्धिमतां बुद्धिर्मनीषा च मनीषिणाम्।
यत् सत्यमनृतेनेह मर्त्येनाप्नोति मामृतम्॥

'बुद्धिमानोंकी बुद्धि और चतुरोंकी चतुराई इसीमें है कि वे इस मरणधर्मा और असत्य शरीरसे अर्थात् शरीर और उसकी सम्पूर्ण क्रियाओंको मेरे अर्पण करके मुझ अविनाशी और सत्य परमात्माकी प्राप्ति कर लें।'

(श्रीमद्भागवत ११।२९।१२—२२)

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

महाभारत-सार

मातापितृसहस्राणि पुत्रदारशतानि च।
संसारेष्वनुभूतानि यान्ति यास्यन्ति चापरे॥

'मनुष्य इस जगत्‌में हजारों माता-पिताओं तथा सैकड़ों स्त्री-पुत्रोंके संयोग-वियोगका अनुभव कर चुके हैं, करते हैं और करते रहेंगे।'

हर्षस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम्॥

'अज्ञानी मनुष्यको प्रतिदिन हर्षके हजारों और भयके सैकड़ों अवसर प्राप्त होते रहते हैं; किन्तु विद्वान् मनुष्यके मनपर उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता।'

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्शश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते॥

'मैं दोनों हाथ ऊपर उठाकर पुकार-पुकारकर कह रहा हूँ, पर मेरी बात कोई नहीं सुनता! धर्मसे मोक्ष तो सिद्ध होता ही है, अर्थ और काम भी सिद्ध होते हैं तो भी लोग उसका सेवन क्यों नहीं करते!'

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥

'कामनासे, भयसे, लोभसे अथवा प्राण बचानेके लिये भी धर्मका त्याग न करे। धर्म नित्य है और सुख-दुःख अनित्य हैं। इसी प्रकार जीवात्मा नित्य

है और उसके बन्धनका हेतु (राग) अनित्य है।'

इमां भारतसावित्रीं प्रातरुत्थाय यः पठेत्।
स भारतफलं प्राप्य परं ब्रह्माधिगच्छति॥

'यह महाभारतका सारभूत उपदेश 'भारत-सावित्री' के नामसे प्रसिद्ध है। जो प्रतिदिन सबेरे उठकर इसका पाठ करता है, वह सम्पूर्ण महाभारतके अध्ययनका फल पाकर परब्रह्म परमात्माको प्राप्त कर लेता है।'

(महाभारत, स्वर्गारोहण० ५। ६०—६४)

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

सत्संगके अमृत–कण

(१)

परमात्माके संगसे योग और संसारके संगसे भोग होता है।

(२)

सुखकी इच्छा, आशा और भोग— ये तीनों सम्पूर्ण दुःखोंके कारण हैं।

(३)

सुखकी इच्छाका त्याग करानेके लिये ही दुःख आता है।

(४)

शरीरको ‘मैं’ और ‘मेरा’ मानना प्रमाद है; प्रमाद ही मृत्यु है।

(५)

नाशवान्‌को महत्त्व देना ही बन्धन है।

(६)

नाशवान्‌की चाहना छोड़नेसे अविनाशी तत्त्वकी प्राप्ति होती है।

(७)

शरीर-संसारसे अपना सम्बन्ध मानना कुसंग है।

(८)

आप भगवान्‌को नहीं देखते, पर भगवान् आपको निरन्तर देख रहे हैं।

(९)

ऐसा होना चाहिये, ऐसा नहीं होना चाहिये—इसीमें सब दुःख भरे हुए हैं।

(१०)

अपने स्वभावको शुद्ध बनानेके समान कोई उन्नति नहीं है।

(११)

अच्छाईका अभिमान बुराईकी जड़ है।

(१२)

मिटनेवाली चीज एक क्षण भी टिकनेवाली नहीं होती।

(१३)

शरीरको मैं-मेरा माननेसे तरह-तरहके और अनन्त दुःख आते हैं।

(१४)

दूसरोंके दोष देखनेसे न हमारा भला होता है, न दूसरोंका।

(१५)

नाशवान्‌की दासता ही अविनाशीके सम्मुख नहीं होने देती।

(१६)

आप भगवान्‌के दास बन जाओ तो भगवान् आपको मालिक बना देंगे।

(१७)

आराम चाहनेवाला अपनी वास्तविक उन्नति नहीं कर सकता।

(१८)

परमात्मा दूर नहीं हैं, केवल उनको पानेकी लगनकी कमी है।

(१९)

जबतक नाशवान् वस्तुओंमें सत्यता दीखेगी, तबतक बोध नहीं होगा।

(२०)

अपनेमें विशेषता केवल व्यक्तित्वके अभिमानसे दीखती है।

(२१)

भगवान्‌से विमुख होकर संसारके सम्मुख होनेके समान कोई पाप नहीं है।

(२२)

परमात्माकी प्राप्तिमें भावकी प्रधानता है, क्रियाकी नहीं।

(२३)

मनमें किसी वस्तुकी चाह रखना ही दरिद्रता है।

(२४)

स्वार्थ और अभिमानका त्याग करनेसे साधुता आती है।

(२५)

संसारसे विमुख होनेपर बिना प्रयत्न किये स्वतः सद्‌गुण आते हैं।

(२६)

हमारा सम्मान हो—इस चाहनाने ही हमारा अपमान किया है।

(२७)

हमारा शरीर तो संसारमें है, पर हम स्वयं भगवान्‌में ही हैं।

(२८)

मुक्ति इच्छाके त्यागसे होती है, वस्तुके त्यागसे नहीं।

(२९)

भगवान्‌के लिये अपनी मनचाही छोड़ देना ही शरणागति है।

(३०)

संसारकी सामग्री संसारके कामकी है, अपने कामकी नहीं।

(३१)

संसारसे कुछ भी चाहोगे तो दु:ख पाना ही पड़ेगा।

(३२)

वस्तुका सबसे बढ़िया उपयोग है—उसको दूसरेके हितमें लगाना।

(३३)

मनुष्यका उत्थान और पतन भावसे होता है, वस्तु, परिस्थिति आदिसे नहीं।

(३४)

आनेवाला जानेवाला होता है—यह नियम है।

(३५)

हम घरमें रहनेसे नहीं फँसते,

प्रत्युत घरको अपना माननेसे फँसते हैं।

(३६)

'है'-पनको परमात्माका न मानकर संसारका मान लेते हैं—यही गलती है।

(३७)

'करेंगे'—यह निश्चित नहीं है, पर 'मरेंगे'—यह निश्चित है।

(३८)

जबतक अभिमान और स्वार्थ है, तबतक किसीके भी साथ प्रेम नहीं हो सकता।

(३९)

असत्‌का संग छोड़े बिना सत्संगका प्रत्यक्ष लाभ नहीं होता।

(४०)

भगवान्‌में अपनापन सबसे सुगम और श्रेष्ठ साधन है।

(४१)

संसारको अपना न मानें तो इसी क्षण मुक्ति है।

(४२)

किसी तरहसे भगवान्‌में लग

जाओ, फिर भगवान् अपने-आप सँभालेंगे।

(४३)

ठगनेमें दोष है, ठगे जानेमें दोष नहीं है।

(४४)

जिसका स्वभाव सुधर जायगा, उसके लिये दुनिया सुधर जायगी।

(४५)

भगवान्के सिवाय कोई मेरा नहीं है—यह असली भक्ति है।

(४६)

लेकर दान देनेकी अपेक्षा न लेना ही बढ़िया है।

(४७)

भगवान् हठसे नहीं मिलते, प्रत्युत सच्ची लगनसे मिलते हैं।

(४८)

भोगी व्यक्ति रोगी होता है, दुःखी होता है और दुर्गतिमें जाता है।

(४९)

भगवान्‌से विमुख होते ही जीव अनाथ हो जाता है।

(५०)

संसारकी आसक्तिका त्याग किये बिना भगवान्‌में प्रीति नहीं होती।

(५१)

लेनेकी इच्छावाला सदा दरिद्र ही रहता है।

(५२)

ऊँची-से-ऊँची जीवन्मुक्त अवस्था मनुष्यमात्रमें स्वाभाविक है।

(५३)

भगवत्प्राप्तिका सरल उपाय क्रिया नहीं है, प्रत्युत लगन है।

(५४)

साधन स्वयंसे होता है, मन-बुद्धिसे नहीं।

(५५)

यदि जानना ही हो तो अविनाशीको जानो, विनाशीको जाननेसे क्या लाभ?

(५६)

नाशवान्‌की इच्छा ही अन्तः-करणकी अशुद्धि है।

(५७)

शरणागति मन-बुद्धिसे नहीं होती, प्रत्युत स्वयंसे होती है।

(५८)

मनुष्यको कर्मोंका त्याग नहीं करना है, प्रत्युत कामनाका त्याग करना है।

(५९)

परमात्माके आश्रयसे बढ़कर दूसरा कोई आश्रय नहीं है।

(६०)

प्रारब्ध चिन्ता मिटानेके लिये है, निकम्मा बनानेके लिये नहीं।

(६१)

श्रेष्ठ पुरुष वही है, जो दूसरोंके हितमें लगा हुआ है।

(६२)

चरित्रकी सुन्दरता ही असली सुन्दरता है।

(६३)

रुपयोंको सबसे बढ़िया मानना बुद्धि-भ्रष्ट होनेका लक्षण है।

(६४)

याद करो तो भगवान्‌को याद करो, काम करो तो सेवा करो।

(६५)

धर्मके लिये धन नहीं चाहिये, मन चाहिये।

(६६)

मनुष्यको वस्तु गुलाम नहीं बनाती, उसकी इच्छा गुलाम बनाती है।

(६७)

शरीरका सदुपयोग केवल संसारकी सेवामें ही है।

(६८)

भगवान् सर्वसमर्थ होते हुए भी हमारेसे दूर होनेमें असमर्थ हैं।

(६९)

यदि शान्ति चाहते हो तो कामनाका त्याग करो।

(७०)

कुछ भी लेनेकी इच्छा भयंकर दु:ख देनेवाली है।

(७१)

पारमार्थिक उन्नति करनेवालेकी लौकिक उन्नति स्वत: होती है।

(७२)

संसार विश्वास करनेयोग्य नहीं है, प्रत्युत सेवा करनेयोग्य है।

(७३)

सच्ची बातको स्वीकार करना मनुष्यका धर्म है।

(७४)

ज्ञान मुक्त करता है, पर ज्ञानका अभिमान नरकोंमें ले जाता है।

(७५)

प्रतिक्षण बदलनेवाले संसारपर विश्वास ही भगवान्‌पर विश्वास नहीं होने देता।

(७६)

भोगी योगी नहीं होता, प्रत्युत रोगी होता है।

(७७)

सबमें भगवद्भाव करनेसे सम्पूर्ण विकारोंका नाश हो जाता है।

(७८)

भक्त दुर्लभ है, भगवान् नहीं।

(७९)

विचार करो, क्या ये दिन सदा ऐसे ही रहेंगे?

(८०)

भगवान् हमारे हैं, पर मिली हुई वस्तु हमारी नहीं है, प्रत्युत भगवान्‌की है।

(८१)

एक-एक व्यक्ति खुद सुधर जाय तो समाज सुधर जायगा।

(८२)

अब मैं पुनः पाप नहीं करूँगा—यह पापका असली प्रायश्चित्त है।

(८३)

नाशवान्‌में अपनापन अशान्ति और बन्धन देनेवाला है।

(८४)

अगर अपनी सन्तानसे सुख

चाहते हो तो अपने माता-पिताकी सेवा करो।

(८५)

मुझे सुख मिल जाय—यह सब पापोंकी जड़ है

(८६)

जहाँ लौकिक सुख मिलता हुआ दीखे, वहाँ समझ लो कि कोई खतरा है!

(८७)

अपना जीवन अपने लिये नहीं है, प्रत्युत दूसरोंके हितके लिये है।

(८८)

भगवन्नामका जप और कीर्तन—दोनों कलियुगसे रक्षा करके उद्धार करनेवाले हैं।

(८९)

जबतक संसारमें आसक्ति है, तबतक भगवान्‌में असली प्रेम नहीं है।

(९०)

दूसरेके दुःखसे दुःखी होना सेवाका मूल है।

(९१)

किसीके अहितकी भावना करना अपने अहितको निमन्त्रण देना है।

(९२)

वस्तु-व्यक्तिसे सुख लेना महान् जडता है।

(९३)

जिसके भीतर इच्छा है, उसको किसी-न-किसीके पराधीन होना ही पड़ेगा।

(९४)

जो दूसरेको दुःख देता है, उसका भजनमें मन नहीं लगता।

(१५)

जो हमसे कुछ भी चाहता है, वह हमारा गुरु कैसे हो सकता है?

(१६)

सन्तोषसे काम, क्रोध और लोभ—तीनों नष्ट हो जाते हैं।

(१७)

अपने लिये सुख चाहना आसुरी, राक्षसी वृत्ति है।

(१८)

मिले हुएको अपना मत मानो तो मुक्ति स्वतःसिद्ध है।

(९९)

अपने सुखसे सुखी होनेवाला कोई भी मनुष्य योगी नहीं होता।

(१००)

याद रखो, भगवान्‌का प्रत्येक विधान आपके परम हितके लिये है—

श्रीमद्भगवद्गीताजीकी आरती

जय भगवद्गीते, जय भगवद्गीते।
हरि-हिय-कमल-विहारिणि, सुन्दर सुपुनीते॥ जय०॥

कर्म-सुमर्म-प्रकाशिनि, कामासक्तिहरा।
तत्त्वज्ञान-विकाशिनि, विद्या ब्रह्म परा॥ जय०॥

निश्चल-भक्ति-विधायिनि, निर्मल मलहारी।
शरण-रहस्य-प्रदायिनि, सब विधि सुखकारी॥ जय०॥

राग-द्वेष-विदारिणि, कारिणि मोद सदा।
भव-भय-हारिणि, तारिणि, परमानन्दप्रदा॥ जय०॥

आसुर-भाव-विनाशिनि, नाशिनि तम-रजनी।
दैवी सद्गुणदायिनि, हरि-रसिका सजनी॥ जय०॥

समता त्याग सिखावनि, हरि-मुखकी बानी।
सकल शास्त्रकी स्वामिनि, श्रुतियोंकी रानी॥ जय०॥

दया-सुधा-बरसावनि मातु! कृपा कीजै।
हरि-पद-प्रेम दान कर अपनो कर लीजै॥ जय०॥

श्रीरामायणजीकी आरती

आरति श्रीरामायनजी की।
कीरति कलित ललित सिय पी की॥
गावत ब्रह्मादिक मुनि नारद।
बालमीक बिग्यान बिसारद॥
सुक सनकादि सेष अरु सारद।
बरनि पवनसुत कीरति नीकी॥ १॥
गावत बेद पुरान अष्टदस।
छओ सास्त्र सब ग्रंथन को रस॥
मुनि जन धन संतन को सरबस।
सार अंस संमत सबही की॥ २॥
गावत संतत संभु भवानी।
अरु घटसंभव मुनि बिग्यानी॥
ब्यास आदि कबिबर्ज बखानी।
कागभुसुंडि गरुड के ही की॥ ३॥
कलिमल हरनि बिषय रस फीकी।
सुभग सिंगार मुक्ति जुबती की॥
दलन रोग भव मूरि अमी की।
तात मात सब बिधि तुलसी की॥ ४॥

श्रीमद्भागवतजीकी आरती

आरति अतिपावन पुरानकी।
धर्म-भक्ति-विज्ञान-खानकी ॥
महापुरान भागवत निरमल।
शुक-मुख-विगलित निगम-कल्प-फल।
परमानन्द-सुधा-रसमय कल।
लीला-रति-रस-रसनिधानकी ॥ आ० ॥
कलि-मल-मथनि त्रिताप-निवारिनि।
जन्म-मृत्युमय भव-भय-हारिनि।
सेवत सतत सकल सुखकारिनि।
सुमहौषधि हरि-चरित-गानकी ॥ आ० ॥
विषय-विलास-विमोह-विनाशिनि।
विमल विराग विवेक विकाशिनि।
भगवत्-तत्त्व-रहस्य प्रकाशिनि।
परम ज्योति परमात्म-ज्ञानकी ॥ आ० ॥
परमहंस-मुनि-मन उल्लासिनि।
रसिक-हृदय रस-रास-विलासिनि।
भुक्ति, मुक्ति, रतिप्रेम सुदासिनि।
कथा अकिंचनप्रिय सुजानकी ॥ आ० ॥

॥ श्रीहरिः ॥

पंचामृत

१— हम भगवान्के ही हैं।

२— हम जहाँ भी रहते हैं, भगवान्के ही दरबारमें रहते हैं।

३— हम जो भी शुभ काम करते हैं, भगवान्का ही काम करते हैं।

४— शुद्ध-सात्त्विक जो भी पाते हैं, भगवान्का ही प्रसाद पाते हैं।

५— भगवान्के दिये प्रसादसे भगवान्के ही जनोंकी सेवा करते हैं।